तत्त्वार्थसूत्र में निहित ज्ञानचर्चा : कुछ निरीक्षण

(अखिल भारतीय दर्शन परिषद, ५७ वाँ अधिवेशन, पारनेर, महाराष्ट्र, १२ से १४ जनवरी, २०१३)

पत्रव्यवहार के लिए पता :
डॉ. कौमुदी बलदोटा
२०३, 'बी' बिल्डींग,
गीतगोविंद हौसिंग सोसायटी,
महर्षिनगर, पुणे ४११०३७
दूरध्वनि : (०२०) २४२६०६६३
मोबाईल क्र. – ९१५८९१०३००
ई–मेल : sunil_baldota@rediffmail.com
दि. १०/०१/२०१३

शोधछात्रा : डॉ. कौमुदी बलदोटा, नानावटी फेलो, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ
विषय व मार्गदर्शन : डॉ. नलिनी जोशी, प्राध्यापिका, जैन अध्यासन, पुणे विद्यापीठ

प्रस्तावना :

जैन साहित्य का इतिहास सामने रखनेपर यह तथ्य उजागर होता है कि प्राय: इसवी की पाँचवी शताब्दी तक पाँच प्रकार के ज्ञान की चर्चाही मुख्यत: से दिखाई देती है । ज्ञान का प्रामाण्य, प्रमाणों की संख्या आदि की चर्चा प्राय: पाँचवी शताब्दी के बाद न्याययुग से आरम्भ हुई । तत्त्वार्थसूत्र जो कि पहला और अग्रगण्य संस्कृत सूत्रबद्ध जैन दार्शनिक ग्रन्थ है, उसमें मुख्य रूप से ज्ञान के पाँच प्रकार ही निर्दिष्ट किये हैं । यह शोधनिबन्ध उस चर्चा से ही सम्बन्ध रखता है ।

विषय का चयन :

आधुनिक युग ज्ञान का युग है । सभी ओर इन्फर्मेशन और टेक्नॉलॉजी की चर्चा जोर–शोर से हो रही है । दूरदर्शन के चॅनेल्स, प्रिंटेड और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, इन्टरनेट, वेबसाईट आदि अनेकों स्रोतों से ज्ञान का महापूर दिखाई दे रहा है । जैन परम्परा में निर्दिष्ट ज्ञान के पाँच प्रकारों में उपरिनिर्दिष्ट ज्ञान की क्या व्यवस्था हो सकती है – इसका चिन्तन इस शोधनिबन्ध का प्रारम्भबिन्दु है ।

प्रत्येक विधान की या घटना की व्यवहार और निश्चय दृष्टि से समीक्षा करना, जैन दर्शन का स्थायीभाव है । व्यवहार से निश्चय तक और नैतिकता से आध्यात्म की ओर जैन विचारधारा का प्रवाह सहज स्वाभाविक रीति से चलता आया है । यही वस्तुस्थिति ज्ञान के पाँच प्रकारों को भी उपयोजित होती है । मति–श्रुत–अवधि–मन:पर्याय और केवल इन पाँच में से पहले दो ज्ञान व्यवहारनय के स्तर पर हैं । अवधि और मन:पर्याय इन दोनों में नैतिकता और आध्यात्मिकता दोनों प्रतिबिम्बित हैं । केवलज्ञान की चर्चा सम्पूर्णत: अध्यात्म से याने निश्चयनय से सम्बन्ध रखती है ।

पाँचों प्रकार के ज्ञान की इतनी सांगोपांग और सूक्ष्म चर्चा तत्त्वार्थ के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में पायी जाती है कि वह अगर शब्दांकित की जाय तो पूरा ग्रन्थ तैयार हो जायेगा । उस सारी पारम्परिक चर्चा को एक बाजू में रखते हुए यहाँ आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विशेष निरीक्षण जिज्ञासुओं के सामने रखें हैं ।

पारम्परिक ग्रान्थिक ज्ञानचर्चा :

षट्खण्डागम, कषायपाहुड, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, धवला, स्याद्वादमंजिरी, द्रव्यसंग्रह, आराधनाविषयक प्रकीर्णक साहित्य, परीक्षामुख – इन ग्रन्थों में निम्न मुद्दों के आधार से ज्ञानचर्चा विस्तृत रूप में पायी जाती है –

ज्ञान के भेद एवं लक्षण ; ज्ञान का स्वरूप ; ज्ञान की इन्द्रियनिरपेक्ष सत्ता ; ज्ञान की स्वपरप्रकाशकता ; ज्ञानप्राप्ति के चिह्न ; एक जीव में युगपत् संभवज्ञान ; भेद और अभेदज्ञान ; सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान ; सम्यग्ज्ञान के आठ अंग ; ज्ञान और भावना ; ज्ञान : एक परिषह ; निश्चय–व्यवहार सम्यग्ज्ञान ; अष्टकर्म में 'ज्ञानावरणीय' प्रथम कर्म ; ज्ञानसंपन्न व्यक्ति ; ज्ञानी व्यक्ति और मदरहित संयम ; ज्ञान की विराधना और अतिचार ; संलेखना के सन्दर्भ में ज्ञानविषयक विचार ; गणी, आचार्य और निर्यापक इनके सन्दर्भ में ज्ञान ; ज्ञानाराधना और मरण ; ज्ञानोपयोग ; ज्ञान से इन्द्रिय–कषायविजय ; अज्ञान और ज्ञानविषयक उपमा ।

उपरिनिर्दिष्ट विस्तृत ज्ञानचर्चा में और सम्बन्धित टीकाग्रन्थों में जिनका जिक्र नहीं किया गया है ऐसे निरीक्षण इस पार्श्वभूमि की आधार पर लेकिन नूतन परिप्रेक्ष्य में यहाँ प्रस्तुत किये हैं ।

ज्ञानसम्बन्धी कुछ तथ्य :

'कोई भी दार्शनिक ग्रन्थ प्रस्तुत करते समय ज्ञानविषयक भूमिका प्रथमत: स्पष्ट करना आवश्यक है'–यह तथ्य वाचक उमास्वाति भलीभाँति जानते थे । इसी वजह तत्त्वार्थसूत्र का पहिला अध्याय ज्ञानचर्चा को समर्पित है ।

तत्त्वार्थसूत्र में 'ज्ञान' शब्द की व्याख्या नहीं पायी जाती । तत्त्वार्थ की यह शैलीगत विशेषता है कि उसमें अनेक संकल्पनाओं की व्याख्या न देकर लक्षण और प्रकार ही अंकित किये हैं । परवर्ती व्याख्याकारों ने भिन्न–भिन्न शब्दों में जैन दृष्टि से ज्ञान का लक्षण दिया है । उसमें से सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या सुप्रसिद्ध है –

जानाति ज्ञायते ऽ नेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम् ।[१] अर्थात् जो जानता है वह ज्ञान है, जिसके द्वारा जाना जाय सो ज्ञान है, जाननामात्र ज्ञान है । इस प्रकार कर्तृसाधन–करणसाधन और भावसाधन की एकरूपता ज्ञान में पायी जाती है ।

* स्पष्टता से दिखाई देता है कि यह व्याख्या निश्चयनय की प्रधानता ध्यान में रखकर की गयी है । आध्यात्मिकता की ओर इसका झुकाव स्पष्ट है ।

ज्ञान की व्याख्या के बारे में चाहे मतभेद हो लेकिन जैन दृष्टि से ज्ञान स्वप्रकाशक भी है और परप्रकाशक भी है । दूसरी बात यह है कि सभी जैन ग्रन्थकारों के अनुसार समग्र ज्ञानचर्चा दृष्टिवाद नामक ग्रन्थ के 'ज्ञानप्रवादपूर्व' नाम के पाँचवे पूर्व से याने विभाग से ली गयी है । तीसरी प्रमुख बात यह है कि यह ज्ञानचर्चा 'मन' या 'अंत:करण' को केन्द्रस्थान में रखकर नहीं की है । ज्ञान यह आत्मा का स्वरूप और गुण होने के कारण सभी ज्ञानप्रकारों का आश्रय और आधारस्थान आत्मा ही है । चौथी बात यह है कि प्राचीन अर्धमागधी ग्रन्थों में 'जाणइ पासइ' यह प्राकृत पदावलि कई बार पुनरुक्त की गई है । परिणामवश जैन परम्परा में 'ज्ञान और दर्शन' का निकटतम सम्बन्ध वारंवार अधोरेखित किया गया । ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध दीपप्रकाशवत् युगपत् बताया गया । वस्तुत: 'पासइ' का सम्बन्ध प्रत्यक्षदर्शी निरीक्षण से सम्बन्धित है । लेकिन उससे 'श्रद्धा' का सम्बन्ध जुडता गया । बाद में उसे ही 'सम्यक्त्व' कहलाया गया । इसी वजह से आत्मा के लक्षण में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनों अन्तर्भूत हुए । पाँचवी मुख्य बात यह है कि जैन अवधारणानुसार प्रत्येक जीव में तत्त्वत: अनन्त ज्ञान निहित है । अनन्त जन्मों में अर्जित कर्मों के आवरण से वह ज्ञान आवृत है । संवर और तप की सहायता से जैसा जैसा आवरण का क्षय होगा वैसा वैसा ज्ञान का प्रगटीकरण होगा ।

जैन आगमग्रन्थों में जो त्रिकालसत्य मार्गदर्शक तत्त्व पाये जाते हैं उनमें से एक है – ‘पण्णा समिक्खए धम्मं ।’[२] इसी के अनुसार ज्ञान के पाँच प्रकारों की विशेषत: मति और श्रुतज्ञान की समीक्षा करने का प्रयास इस शोधनिबन्ध में किया है ।

(अ) सूत्रानुलक्षी समीक्षा :

समग्र ज्ञानचर्चा के बावजूद जैन परम्परा और तत्त्वार्थ की यह भूमिका कभी भी नहीं है कि ‘ज्ञानात् एव मोक्ष: ।’ मतलब है कि जैनियों के अनुसार अकेला ज्ञान मोक्षदायक नहीं है । भारतीय षड्दर्शनों में से कुछ दर्शन कहते हैं कि ‘ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष: ।’ जैन तत्त्वज्ञान इससे भी सहमत नहीं है । तत्त्वार्थ की दृष्टि से मोक्षमार्ग में अग्रेसर होने के लिए दर्शन–ज्ञान–चारित्र का उचित समन्वय अपेक्षित है ।[३]

पाँच प्रकार के ज्ञानों का एकत्रित उल्लेख करते हुए उमास्वाति कहते हैं – मतिश्रुता ऽ वधिमन:पर्यायकेवलानि ज्ञानम् । इस सूत्र का प्रथम पद बहुवचनान्त है लेकिन ‘ज्ञानम्’ शब्द एकवचन में प्रयुक्त है । इससे स्पष्ट है कि आत्मा में ज्ञान की सत्ता वर्गीकृत रूप में अर्थात् बहुरूप नहीं है, एकरूप ही है ।

(२) तत्त्वार्थ के अगले तीन सूत्रों में प्रमाणचर्चा भी संक्षिप्त रूप में समाविष्ट है ।[४] तत्त्वार्थ के अनुसार ये पाँचों प्रकार के ज्ञान जब ‘सम्यक्’ है तब वे ‘प्रमाण’ होते हैं । आद्य मतिज्ञान (इन्द्रियज्ञान) और श्रुतज्ञान ये दोनों इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं, अतएव ये दो ज्ञान ‘परोक्ष’ हैं । अवधि–मन:पर्याय और केवल इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा को होते हैं, अतएव ‘प्रत्यक्ष’ हैं । प्रत्यक्ष–परोक्ष की ये धारणाएँ अन्य भारतीय दार्शनिकों को मान्य नहीं है । इसलिए नन्दीसूत्र में मति–श्रुत को इन्द्रियप्रत्यक्ष और अन्तिम तीन ज्ञानों को ‘नोइन्द्रियप्रत्यक्ष’ कहा है ।

वस्तुत: अनुयोगद्वारसूत्र की रचना तत्त्वार्थ के पहले ही हुई है । उसमें प्रत्यक्ष–अनुमान–औपम्य और आगम चारों को प्रमाण कहा है । उत्तरवर्ती जैन न्यायविषयक ग्रन्थों में भी यही चार प्रमाण स्वीकृत किये हैं । उमास्वाति उसको नजरअंदाज करते हुए आगमोक्त परोक्ष–प्रत्यक्ष का अनुसरण करना ही उचित समझते हैं ।

(३) मतिज्ञान का विशेष विचार :

इन्द्रिय और मन की सहायता से होनेवाले ज्ञान को उमास्वाति ‘मतिज्ञान’ कहते हैं । तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के तेरहवें सूत्र में मतिज्ञान के समानार्थक शब्द देते हैं । कहते है कि – मति: स्मृति: संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।

* इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रमुखता से प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में ‘मति’ यह शब्द पाया जाता है । अर्धमागधी ग्रन्थ ‘अभिनिबोधिक’ शब्द का उपयोग ऐन्द्रियज्ञान के लिए प्रयुक्त करते हैं ।

* इन्द्रियबोध के लिए मन की आवश्यकता अधोरेखित करने के लिए ‘मति’ शब्द का प्रयोग किया होगा ।

* मति शब्द ‘मन्’ क्रियापद से बना हुआ है । मति शब्द में ‘मनन’ व्यापार की प्रमुखता है । इसी वजह से वादविवाद युग और न्याययुग में मति शब्द की जगह ‘इन्द्रियप्रत्यक्ष’ शब्द ने ली ।

* ‘मति’ शब्द रूढ अर्थ में नि:संशय ‘बुद्धिवाचक’ही है ।

* मति–स्मृति इत्यादि पाँचों को समानार्थी शब्द कहना बिल्कुल ही नहीं जँचता । क्योंकि मति का सम्बन्ध मनन से ; स्मृति का स्मरण से ; संज्ञा का प्रत्यभिज्ञा से ; चिन्ता का चिन्तन से और आभिनिबोध का तत्काल बोध से है । ये पाँचों व्यापार स्पष्टत: अलग–अलग है । सच है कि इन सभी शब्दछटाँओं का सूक्ष्म वर्गीकरण जैन दर्शन की एक खासियत है । उन सभी को समान भूमिका पर लाना उचित नहीं है ।

* 'जातिस्मरण' यह संज्ञा और जातिस्मरण ज्ञान के उदाहरण जैन कथाग्रन्थों में विपुल मात्रा में पाये जाते हैं । तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय की ज्ञानचर्चा में और टीकाकारों के व्याख्याओं में भी जातिस्मरणज्ञान की व्यवस्था दिखाई नहीं देती । वस्तुत: 'स्मृति' संज्ञा के स्पष्टीकरण में यह अपेक्षित था । वस्तुत: जातिस्मरण की चर्चा अवधिज्ञान की संकल्पना के बहुत निकट जाती है । तथापि अवधिज्ञान की चर्चा में भी जातिस्मरण की चर्चा नहीं दिखाई देती । अत: सर्वसाधारण मान्यता यह रूढ हो गयी है कि जातिस्मरण विशुद्ध मतिज्ञान का एक प्रकार है ।

* 'तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम्'-इस सूत्र में मन के लिए 'अनिन्द्रिय' शब्द का प्रयोग किया है । मन-चित्त और अंत:करण ये तीनों शब्द रूढ होने के बावजूद उमास्वाति 'अनिन्द्रिय' शब्द का आग्रह रखते हैं । वस्तुत: अनिन्द्रिय शब्द धवला आदि प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में एवं प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी मन के अर्थ में नहीं प्रयुक्त पाया जाता । शायद पातञ्जलयोगदर्शन में चित्त और अन्त:करण इन दोनों शब्दों का महत्त्व होने के कारण तत्त्वार्थ ने अपनी अलगता दिखाने के लिए अनिन्द्रिय शब्द का प्रयोग किया होगा । मन का महत्त्व कम करने के लिए भी अनिन्द्रिय शब्द की सहायता होती है । ऐसी भी बात नहीं है कि तत्त्वार्थ में मन शब्द का प्रयोग ही नहीं पाया जाता । क्योंकि मन:पर्यायज्ञान शब्द में स्पष्टत: मन शब्द का प्रयोग है । वहाँ अनिन्द्रिय शब्द का प्रयोग नहीं किया है । धवला जैसे ग्रन्थों में अनिन्द्रिय शब्द का प्रयोग 'इन्द्रियरहितता' दिखाने के लिए प्रयुक्त है ।

* इन्द्रिय और मन द्वारा ग्रहण किये हुए वस्तु का अवबोध किस प्रकार होता है यह दर्शाने के लिए मतिज्ञान का उत्तरोत्तर विकसित रूप अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणा इन चार संकल्पनाओं के द्वारा उमास्वाति स्पष्ट करते हैं । कई अभ्यासकों ने इस सूक्ष्मता को उमास्वाति की विशेषता के तौर पर प्रस्तुत किया है । आगमों में दृढ धारणा होने के कारण ही ज्ञानमीमांसा को स्पष्ट करनेवाले ३५ सूत्रों में से ५ सूत्र अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा के स्पष्टीकरण करने के लिए उपयोजित किये हैं ।[५]

* इन्द्रियज्ञान के बारे में न्यायदर्शन की सामान्य अवधारणा यह है कि इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से अर्थात् सम्पर्क या सम्बन्ध से वस्तु का बोध अर्थात् अवग्रह होता है ।[६] इसपर अधिक विचारणा करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में इसके दो अपवाद बताये हैं । उमास्वाति के अनुसार चाक्षुष ज्ञान और मनोजन्य ज्ञान होने के लिए चक्षु और मन का विषय से प्रत्यक्ष संयोग नहीं होता । मन के बारे में उमास्वाति का कहना ठीक लगता है क्योंकि उसके लिए वस्तु से साक्षात् सम्पर्क आवश्यक नहीं होता । बाकी चार इन्द्रियों के बारे में हम कह सकते हैं कि सिर्फ स्पर्शज्ञान के लिए ही साक्षात् संयोग की आवश्यकता है । गन्ध-प्रकाश और शब्द ये तीनों जैन अवधारणा के अनुसार पुद्गलमय हैं ।[७] ये तीनों प्रकार के पुद्गल सम्बन्धित इन्द्रियों के सम्पर्क में आनेपर ही बोध या अवग्रह होता है । चाक्षुष ज्ञान के बारे में आधुनिक अवधारणा यह है कि वस्तु से परावर्तित प्रकाशकिरण जब नेत्रपटल के सम्पर्क में आते हैं तब वस्तु की प्रतिमा नेत्रपटल में प्रतिबिम्बित होती है । इसके पहले भी कहा है कि प्रकाशकिरण भी पुद्गलमय हैं । अत: गन्ध और शब्दज्ञान जिस प्रकार होता है उसी प्रकार चाक्षुष अवग्रह भी होता है । 'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्'-यह सूत्र आधुनिक अवधारणानुसार अपवादसूत्र नहीं बन सकता ।

(४) श्रुतज्ञान का विशेष विचार :

सभी लौकिक या व्यावहारिक ज्ञान के लिए पाँच इन्द्रियाँ एवं मन का महत्त्व अनन्यसाधारण है । इसी वजह से कुल आँठ सूत्रों में उमास्वाति ने ऐन्द्रियज्ञान की चर्चा की है । जैन परम्परा के अनुसार ज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत आगमग्रन्थ है । उसे 'श्रुत' या 'आम्नाय' भी कहा जाता है । वस्तुत: अन्य दर्शनों में शब्दप्रमाण के अन्तर्गत

अपने-अपने शास्त्रग्रन्थों का विचार विस्तार से स्पष्ट किया है । उन्हें आप्तवाक्य भी कहा है । दृष्टिवाद से निष्पन्न आगमों से प्राप्त ज्ञान की चिकित्सा के लिए उमास्वाति केवल एक सूत्र में कहते है कि, 'श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ।' अर्थात् श्रुतज्ञान मतिपूर्वक है और उसके दो, अनेक अथवा बारह भेद हैं । स्वोपज्ञ टीका में एवं तत्त्वार्थ की अन्य टीकाओं में इसका विस्तृत विवेचन पाया जाता हैं ।

* प्रस्तुत सूत्र में श्रुतज्ञान के कुल तीन भेद बताये हैं । उनमें से श्रुत के 'दो' भेदों की और 'द्वादश' भेदों की चर्चा उपलब्ध जैन आगमों के वर्गीकरण के द्वारा व्याख्याकारों ने विशेष रूप से स्पष्ट की है । 'अनेक' शब्द के बारे में तत्त्वार्थ के टीकाकारों ने अत्यल्प महत्त्व दिया है । समकालीन औपचारिक शिक्षण में अन्तर्भूत जैनेतर ग्रन्थों का और साहित्य का नाममात्र उल्लेख वे 'अनेक' शब्द के अन्तर्गत प्रस्तुत करते हैं ।

नन्दीसूत्रकार ने श्रुत के दो भेद कहे हैं – १) सम्यक् श्रुत और २) मिथ्या श्रुत । जैन आगमों को वह सम्यक् श्रुत कहता है । मिथ्या श्रुत के अन्तर्गत रामायण-महाभारत-पातञ्जल-दर्शनग्रन्थ-अंग-उपांगसहित वेद-बहत्तर कला आदि लगभग सत्ताईस ग्रन्थों का समावेश मिथ्याश्रुत में करता है । उसके अनन्तर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी भी प्रस्तुत करता है कि 'अगर सम्यक् दृष्टि से पढें जाय तो मिथ्याश्रुत सम्यक्श्रुत हो जाते हैं ।'[८] नन्दीकार के आंशिक अभिनिवेश का और आंशिक उदारमतवाद का दर्शन, इस टिप्पणी से होता है । इस टिप्पणी का इतना दूरगामी परिणाम हुआ कि परवर्ती जैन आचार्य महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रकरणग्रन्थ, चरित, अलंकारशास्त्र, गणित, आयुर्वेद, नीतिशास्त्र आदि अनेक विषयों पर बिना झिझक अपनी सर्जनशील प्रतिभा का उपयोग करने लगे ।

* नन्दीकार की एक अलग सोच श्रुतज्ञान के स्पष्टीकरण में दिखायी देती है । उसने 'अक्षरश्रुत' और 'अनक्षरश्रुत' वर्गीकरण के द्वारा श्रुतज्ञान का विस्तार बहुत ही बढाया है । लिपिबद्ध ग्रन्थों को वह 'अक्षरश्रुत' कहता है । पशुपक्षी आदि भाषावर्गणावाले जीवों के स्वरयुक्त उच्चारणों का समावेश भी अनक्षरश्रुत में करता है । इसके अलावा नि:श्वास, हावभाव आदि आकार इंगित आविर्भावों के द्वारा भी अनक्षरश्रुत कक्षा में लाता है ।[९] नन्दीकार का यह कथन नि:संशय प्रशंसनीय है क्योंकि आधुनिक काल में ज्ञानप्राप्ति के जो-जो भी साधन उपलब्ध है वे सब हम श्रुतज्ञान में अन्तर्भूत कर सकते हैं । मतलब दूरदर्शन के चॅनेल्स, प्रिन्टेड और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, इन्टरनेट, वेबसाईट आदि अनेकों स्रोत 'श्रुतज्ञान' के दायरे में आ सकते हैं । इन माध्यमों से प्राप्त जो ज्ञान साधार-प्रमाणित और तर्कबुद्धि के अनुसार उचित है उसकी छानबीन कर के ही स्वीकारना आवश्यक है । अन्यथा जैन दृष्टि से वे सम्यक्-श्रुत न होकर, 'कुश्रुत' के अन्तर्गत उनकी अवगणना करनी पडेगी । श्रुतज्ञान की कक्षा हम और भी बढा सकते हैं । अनेक सामाजिक-धार्मिक संकेत, कुलधर्म-कुलाचार, कथा-कहानियाँ, परम्परा इतना ही नहीं तो बालक के प्रारम्भिक काल में भाषाज्ञान प्राप्त करने के प्रयास – ये सब इसमें अन्तर्भूत हो सकते हैं ।

* मति-श्रुत की उमास्वातिकृत अवधारणा और इन दोनों का नन्दीकार ने किया हुआ विस्तार देखकर हम कह सकते हैं कि व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति में इन दो मूलगामी साधनों की नये तरीके से और सूक्ष्मता से की हुई समीक्षा नन्दीकार के सूझबूझ की वाकई निदर्शक है ।

* श्रुतज्ञान का एक वर्गीकरण, तत्त्वार्थ के आधार से 'कालिक और उत्कालिक' के स्वरूप में स्पष्ट किया जाता है । दिवस के विशिष्ट प्रहर में जिनका स्वाध्याय करना आवश्यक कहा है, वह 'कालिक' है ।[१०] कथित काल के सिवाय अन्य काल में भी जो पढा जा सकता है, वह 'उत्कालिक' है ।[११] इन दोनों संज्ञाओं की एक अलग उपपत्ति भी दी जा सकती है । जो ग्रन्थ केवल समकालीन परिप्रेक्ष्य में अर्थपूर्ण होते हैं, उन्हें हम 'कालिक' कह सकते हैं । लेकिन कुछ ग्रन्थ या ग्रन्थान्तर्गत विचार ऐसे भी होते हैं, जिनका स्वरूप सार्वकालिक और सार्वजनीन होता है । इस वर्गीकरण के अनुसार तत्त्वज्ञान, जीवविज्ञान, खगोल, सृष्टिविज्ञान आदि पर आधारित ग्रन्थ 'उत्कालिक' के अन्तर्गत आ सकते हैं । आचार पर आधारित ग्रन्थों को 'कालिक' कह सकते हैं ।

* 'श्रुतं मतिपूर्वं' इस पदावलि से यह सूचित होता है कि सक्षम इन्द्रिय-सामर्थ्यवाला व्यक्ति ही श्रुतज्ञान का अधिकारी होता है । यहाँ 'श्रुत' का मतलब स्पष्टत: जैन आगमज्ञान से सम्बन्धित है । ज्ञानमीमांसाविषयक इस सूत्र का सम्बन्ध दीक्षा की योग्यता और अयोग्यता से जुडा हुआ दिखायी देता है । जिनकी सभी इन्द्रियाँ सक्षम हैं ऐसे व्यक्ति को भी दीक्षा का अधिकारी माना है । वस्तुत: श्रुतज्ञान तो परम्परा से चलता आया हुआ मौखिक ज्ञान है । इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्ध-पंगु-मूक आदि व्यक्तियों को 'श्रुतज्ञान का अधिकारी' क्यों न माना जाय ? अगर ज्ञानशक्ति आत्मा से सम्बन्धित है तो अन्ध आदि व्यक्तियों को तो अनासक्ति-विरक्ति आदि आध्यात्मिक भाव होने के बावजूद भी दीक्षा के योग्य क्यों नहीं माना गया ? वैसे तो लिखित स्वरूप में स्पष्ट निर्देश नहीं दिखायी दिया । फिर भी आगमग्रन्थों और कथाग्रन्थों आदि पूरे ग्रन्थसम्भार में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं पाया गया, जहाँ अन्ध-पंगु आदि व्यक्ति को दीक्षा प्रदान की गयी है । अन्ध, पंगु आदि लोगों को दीक्षा न देने के अनेक सामाजिक और संघव्यवस्थानिष्ठ कारण हो सकते हैं । जिसकी मीमांसा करना एक अलग ही विषय है । वरन् शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें कोई अडचन नहीं दिखायी देती ।

(५) अवधिज्ञान का विशेष विचार :

मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान मुख्यत: लौकिक और व्यावहारिक है । मन:पर्याय और केवल ये दोनों ज्ञान सर्वस्वी अध्यात्म से सम्बन्धित है । अवधिज्ञान का सम्यक् और मिथ्यात्मक मिश्र स्वरूप और उसके अधिकारी, यह सब देखकर लगता है कि मानों ये ज्ञान पाँच ज्ञानों की शृंखला में से यथार्थ रूप से बीचवाली कडी है । एक तरफ से वह लौकिक ज्ञान से भी जुडा हुआ है और दूसरी तरफ से वर्धमान आध्यात्मिक ज्ञान की पहली सीढी है ।

जैन दार्शनिक अवधारणा के अनुसार अवधिज्ञान का स्वरूप निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जाता है – इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, आत्मा से मर्यादित रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है । देव और नारकियों का अवधिज्ञान 'भवप्रत्यय अवधिज्ञान' है । तिर्यंच और मनुष्यों को क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान छ: प्रकार से होता है ।[१२]

* दार्शनिक दृष्टि से मनुष्यों और तिर्यंचों को पुण्यप्रकर्ष से देवगति प्राप्त होती है । इसी वजह उनमें ज्ञान कोई विशेषता भी होनी चाहिए । इसलिए वे जन्मत: अवधिज्ञानधारी होते हैं । देवों के मति और श्रुतज्ञान की चर्चा बहुत कम मात्रा में पायी जाती है । उससे ज्यादा तो उनके अवधिज्ञान की ही जानकारी प्राप्त होती है ।

* मन:पर्याय और केवलज्ञान दार्शनिक दृष्टि से केवल मनुष्यों को ही होते हैं । मनुष्यत्व का दुर्लभत्व और श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने के लिए देवगति में सामान्यत: उच्च ज्ञान की अवधारणा करने पर भी अत्युच्च आध्यात्मिक ज्ञान तक उनकी पहुँच नहीं दर्शायी है ।

* देवलोक में रहकर भी तीर्थंकरों के पंचकल्याणक[१३], मनुष्यों को प्रतिबोध[१४], अपूर्व दान[१५] आदि सब मनुष्यलोक के दृश्य सीसीटीव्ही कॅमेरा की तरह देवलोक में रहकर ही अवधिज्ञान के द्वारा देख सकते हैं । इन प्रसंगों में अवतरित भी होते हैं । हिंदु पुराणों में प्रसिद्ध 'अवतार' संकल्पना को जैन दर्शन में भले मान्यता न हो लेकिन प्रसंगोपात्त अवतरण देवों का होता है ।

* यद्यपि नारकियों को जन्मत: प्राप्त अवधिज्ञान है तथापि उसका प्रयोजन अलग है । देवों की तरह यहाँ श्रेष्ठता की बात नहीं है । नरकों के भीषण दु:ख सहते समय नारकी जीव सीसीटीव्ही कॅमेरा की तरह पूर्वकृत दुष्कर्म देखते हैं । तथा भावी जन्म देखकर थोडा सन्तोष भी पाते हैं । इस दार्शनिक मान्यता का आधार सामान्यत: मनोवैज्ञानिक ही दिखायी देता है । देवों की तरह नारकी जीवों के मति-श्रुत ज्ञान के सन्दर्भ भी प्राय: नहीं के बराबर है ।

* तिर्यंचों के बारे में अवधिज्ञान की अवधारणा जैन दर्शन की खासियत है । किम्बहुना गति, जाति, लिंग,

शरीर आदि चौदह मार्गणास्थानों के द्वारा तिर्यंचसृष्टि का सूक्ष्मतम वर्णन सब भारतीय दर्शनों में सिर्फ जैन मूलग्रन्थों में ही पाया जाता है ।[१६] तिर्यंचों के आध्यात्मिक प्रगति के बारे में याने कि कुछ तिर्यंचों के चतुर्थ-पंचम गुणस्थान तक आत्मिक विकास का जिक्र भी जैन ग्रन्थों ने किया है ।[१७] मुख्य बात यह है कि विविध प्रकार के तिर्यंचों में विविध प्रकार की इन्द्रियशक्तियाँ प्रखर रूप में मनुष्य से ज्यादा प्रखर होती है । उनका स्पष्टीकरण जैन ग्रन्थों में दिखायी नहीं देता । संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के श्रुतज्ञान का और अवधिज्ञान का जिक्र भी अत्यन्त अल्प मात्रा में पाया जाता है ।

सारांश रूप से हम कह सकते हैं कि चार गतियों में से देव-नारक और तिर्यंचों का विचार सिर्फ अवधिज्ञान के सन्दर्भ में ही पाया जाता है । उनके मति-श्रुत की चर्चा नहीं है और मन:पर्याय एवं केवलज्ञान उनके दायरे के बाहर ही है । परिणामवश पूरी ज्ञानचर्चा में मुख्यत: 'मनुष्यलक्ष्यी' चर्चा ही आभासित होती है ।

* जातिस्मरण और अवधिज्ञान दोनों के विषय, अधिकारी आदि के बारे में जब हम सोचते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्यत: जातिस्मरण खुद के विषय में होता है और अवधिज्ञान प्राय: दूसरे के बारे में होता है । ऐसी अवस्था में 'जातिस्मरण' की संकल्पना अवधिज्ञान की शायद प्राथमिक अवस्था है, ऐसा सूचित होता है ।

*** आधुनिक परिप्रेक्ष्य में 'अवधिज्ञान' का नूतन अर्थ :**

अवधिज्ञान का मर्यादित क्षेत्र में रूपी पदार्थों का ज्ञान कराता है । वर्तमान युग विज्ञान का अर्थात् scientific progress का युग है । निकटवर्ती क्षेत्रों के वस्तुओं का सूक्ष्मदर्शक यन्त्रों के द्वारा विस्तृत ज्ञान हो रहा है । सुदूरवर्ती वस्तु, व्यक्ति, घटना देखने के लिए सैकडों गॅजेट्स उपलब्ध हैं । दुर्बिण, गुगल, सीसीटीव्ही, कॅमेरा आदि उपकरणों के द्वारा विश्व के कई रूपी पदार्थों का ज्ञान 'प्रत्यक्ष रूप' में आ रहा है । चन्द्र-मंगल आदि उपग्रहों की फोटोग्राफी भी हो रही है । वैज्ञानिक खोजों के आधार से कई उपकरण विकसित किये गये हैं । आध्यात्मिक निकषों के अनुसार व्यक्ति चारित्रविशुद्धि के द्वारा अवधिज्ञान प्राप्त तो कर सकता है लेकिन दूसरों के लिए ये द्वार खोल नहीं सकता । संशोधकों ने विज्ञान के द्वारा ऐसे उपकरण खोजें हैं कि 'उपयोग' लगाने पर याने कि 'बटन' दबाने पर किसी को भी अतिनिकटवर्ती अथवा अतिदूरवर्ती वस्तुओं का ज्ञान, समान रूप से होता है । इस अवधिज्ञान के लिए चारित्रपालन-ध्यान आदि की आवश्यकता नहीं है । हर-एक परमाणु में अनन्त शक्ति की संकल्पना जैन दर्शन ने की है । परमाणु विज्ञान ने atomic energy संकल्पना प्रत्यक्ष में लायी है । यह भी अवधिज्ञान का विस्तारित रूप ही कहा जा सकता है । वैज्ञानिक खोजों का अगर मानवी कल्याण के लिए उपयोग किया तो हम उसे 'सुअवधि' कह सकते हैं । अगर विनाशक कार्यों के लिए इस्तेमाल किया तो हम उसे 'कुअवधि' कह सकते हैं ।

कितने भी वैज्ञानिक उपकरणों से वस्तुओं का ज्ञान हो लेकिन जो भी ज्ञान होगा वह सब जैन दर्शन के अनुसार, वर्ण-गन्ध-रस और शब्दवाले पुद्‌गलों का ही होगा । उपकरणों द्वारा जाने गये समनस्क जीवों के अन्तरंगभाव तो विज्ञान के दायरे के परे ही रहेंगे । जैन दर्शन द्वारा कथित चारित्रविशुद्धि और अवधिज्ञान का सम्बन्ध हम आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी सोच सकते हैं । जब संशोधक विशिष्ट क्षेत्र में कार्यरत होता है तब वह एकाग्र ध्यास से सम्पन्न होता है । मोह और कषाय की दृष्टि से भी अनेक उपभोग्य वस्तुओं से निवृत्त और निरासक्त रहता है । इस अवस्था को हम 'ध्यान' भी कह सकते हैं ।

जैन अवधारणा के अनुसार इस पंचम आरे में अवधिज्ञान की संभावना है । विविध वैज्ञानिक खोजों ने सिद्ध किया है कि एक दृष्टिकोण से अवधिज्ञान का क्षेत्र बढ भी रहा है और जनसाधारण के लिए खुला भी हो रहा है । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र से बाहर आकर यह ज्ञान वास्तववादी प्रत्यक्ष क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है ।

(६) मन:पर्याय का विशेष विचार :

जैन दर्शन के अनुसार, दूसरों के मनोगत भावों को जानना, मन:पर्यायज्ञान कहलाता है । मनवाले (संज्ञी) प्राणी किसी भी वस्तु या पदार्थ का चिन्तन मन द्वारा करते हैं । चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन में प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है । वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जाननेवाला ज्ञान मन:पर्याय है । मन:पर्यायज्ञान से किसी के मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यासवश अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया । इसके दो भेद हैं - १) ऋजुमति मन:पर्यायज्ञान और २) विपुलमति मन:पर्यायज्ञान ।[१८]

* मन के बारे में वैज्ञानिकों में ही मतभेद है । वैज्ञानिकों के एक वर्ग की मान्यता यह है कि शरीर में 'मन' नाम की कोई स्वतन्त्र चीज अस्तित्व में नहीं है । मस्तिष्क के अनेक संवेदना-केन्द्रों में से कुछ केन्द्र सुख-दु:ख-आनन्द-खेद-क्रोध आदि भावनाओं का नियन्त्रण करते हैं । दूसरी मान्यता के अनुसार, मन के व्यापारों पर आधारित मानसशास्त्र नाम की पूरी ज्ञानशाखा प्रस्थापित की गयी है । जैन दार्शनिकों में भी कोई चिन्तक मन अणुरूप मानते हैं तो कोई मन को विभु (व्यापक) मानते हैं । किन्हीं जैन विचारवन्तों के मन को मध्यमपरिमाणी भी माना गया है । मन के बारे में होनेवाले आधुनिक मतभेद जैन विचारवन्तों में भी उपस्थित है ।

* मन:पर्यायज्ञान का अंग्रेजी रूपान्तर 'टेलिपथी' या mental knowledge इन दोनों प्रकारों से किया जाता है । इसमें दूसरा भाषान्तर अधिक ठीक लगता है क्योंकि टेलिपथी में जो अवधारणा है, वह मन का केवल एक व्यापार है ।

* जो बात अवधिज्ञान के बारे में बतायी है वह प्राय: मन:पर्यायज्ञान को भी उपयोजित हो सकती है । क्योंकि मानसशास्त्र की विविध शाखाएँ आज विकसित हो रही हैं । मानसशास्त्र के मुख्य दो शब्द 'कॉन्शस माइंड' और 'सबकॉन्शस माइंड' है । शायद जैन-दर्शन वर्णित 'अन्तरात्मा' और 'बहिरात्मा' की अवधारणा इससे मिलतीजुलती है । परमात्मा को हम 'सुप्रा कॉन्शस माइंड' भी कह सकते हैं । लेकिन इसमें मतभिन्नता भी हो सकती है ।

* संमोहनशास्त्र के अनुसार, विशिष्ट पद्धति से दूसरों के मन को संमोहित किया जा सकता है । इस पद्धति से दूसरों के मन की आकृतियाँ जानी जा सकती है । इसीलिए हम कह सकते हैं कि आधुनिक मानसशास्त्र मन:पर्यायज्ञान के निकटतम जा रहा है ।

* मन:पर्यायज्ञान के दार्शनिक विवेचन में अनेक त्रुटियाँ दिखाई देती है । अवधिज्ञान की तुलना में मन:पर्यायज्ञान को 'सूक्ष्म' माना है । लेकिन कथा-साहित्य में मन:पर्यायज्ञान द्वारा मनोगत भावों को जानने के उल्लेख अतिशय अल्पमात्रा में पाये जाते हैं । गर्भस्थ अवस्था में भ. महावीर ने उनकी माता के मनोगत भाव 'अवधिज्ञान' से जाने थे । गणधरों के मनोगत प्रश्न भ. महावीर ने 'केवलज्ञान' के द्वारा जाने थे । इन दोनों पौराणिक मान्यताओं में मन:पर्यायज्ञान का बिल्कुल भी जिक्र नहीं किया है ।

* सैद्धान्तिक दृष्टि से मन:पर्यायज्ञान 'आत्मा' को होता है । जैन अवधारणा में मन का स्थान पाँच इन्द्रियों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं रखा गया है । अगर होता तो मन:पर्यायज्ञान 'मन' को हो जाता । लेकिन 'ज्ञान' गुण सिर्फ आत्मा का है । अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर मन का महत्त्व 'कम' है तो मन:पर्यायज्ञान को चौथे क्रम पर विशेषत: पूर्ण आत्मज्ञान के इतने निकट का स्थान क्यों दिया है ? मन के द्वारा जानी गयी वस्तुओं के स्वरूप के बारे में परवर्ती ग्रन्थकारों में भी मतभेद दिखायी देते हैं ।

* मन:पर्यायज्ञान के द्वारा 'दूसरों' के मनोगत भाव जानने को महत्त्व दिया है । लेकिन 'खुद' के मनोगत भावों के जानने के बारे में कुछ कहा नहीं गया है ।

* मन:पर्यायज्ञानी द्वारा जाने गए मनोगत भाव किसी को कहने का प्रसंग दार्शनिक ग्रन्थ या कथाग्रन्थ में नहीं पाया जाता । वह तो विशिष्ट व्यक्ति में 'यह ज्ञान है या नहीं', यह तो दूसरा मन:पर्यायज्ञानी या केवली ही कह

सकता है । लेकिन इस प्रकार के कुछ कथन का प्रावधान अध्यात्मशास्त्र में नहीं है । अत: मन:पर्यायज्ञान आध्यात्मिक प्रगति के कसौटीशिला (Touch-stone) के रूप में ही माना जा सकता है जो केवलज्ञान तक व्यक्ति की प्रगति का एक साक्षी है ।

(६) केवलज्ञान का विशेष विचार :

तत्त्वार्थ के आधार से जब केवलज्ञान की मान्यता रूढ हुई तब परवर्ती दार्शनिक ग्रन्थों में उसका स्वरूप निम्न प्रकार से बताया जाता है – केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी रूपी–अरूपी द्रव्यों में, सभी पर्यायों में और तीनों कालें में होती है ।[१९] यह ज्ञान की अत्युच्च आध्यात्मिक अवस्था है । केवलज्ञान के धारक को 'सर्वज्ञ' कहते हैं । केवलज्ञान का धारक व्यक्ति नियम से मोक्ष का अधिकारी होता है ।

* पंचप्रकारक ज्ञान में यह गृहीतक है कि इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना साक्षात् आत्मा को जो ज्ञान है वे आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च है और पहले दो ज्ञान इन्द्रिय और मन पर अवलम्बित होने के कारण 'लौकिक' है, 'लोकोत्तर' नहीं है । वस्तुस्थिति यह है कि मति–श्रुत के बिना ज्ञान की प्रगति असम्भव है । केवल 'सहायता के बिना' होने से केवलज्ञान 'अत्युच्च' कैसे हो सकता है ? 'बन्ध जितना सत्य है उतना ही मोक्ष सत्य है'–यह सूत्रकृतांग में स्पष्टता से निर्दिष्ट किया है ।[२०] इसलिए ज्ञानों में तरतमभाव रखना उचित नहीं है ।

* धारणा यह है कि केवलज्ञानी लोकालोक को जानता–देखता है । अगर अलोक भी देखने के दायरे में आ जाय तो उसका 'अलोकत्व' अबाधित नहीं रह सकता ।

* मूर्त और अमूर्त सभी को जानने–देखने पर 'अमूर्तत्व'की संकल्पना का भी लय हो जाएगा ।

* त्रैकालिक विषयों का ज्ञान अनादि–अनन्त सहित होने से सृष्टि के उत्पत्ति–विनाश का प्रसंग आ जाएगा । तथा नियतिवाद की भी सर्वथा पुष्टि होगी ।

अगर केवली यह सब 'जानता है' तो ठीक है लेकिन अगर 'देखता है', 'दर्शन करता है', तो वाकई उपरोक्त मुसीबत खडी होगी ।

* यह तार्किक असम्भवनीयता टालने के लिए ही परवर्ती विचारवन्तों ने स्पष्ट किया है कि केवली 'नियत' को 'नियत रूप' में और 'अनियत' को 'अनियत रूप' में जानता है । कार्यकारणमीमांसा की दृष्टि से जैनियों की अवधारणा यह है कि विशिष्ट कार्य के निष्पादन में कर्म–पुरुषार्थ–स्वभाव–काल और नियति इन पाँचों घटकों का समन्वय होता है । अत: सब कुछ होने के पहले ही जानने में जो नियतिवाद है, वह कार्यकारण की अवधारणा में स्वीकारा नहीं जाता ।

* दार्शनिक ग्रन्थों में सर्वज्ञ की संकल्पना को परिलक्षित कर के खण्डनमण्डनात्मक वादविवादात्मक चर्चाएँ दिखायी देती है । यह संकल्पना अतार्किक होने के कारण आधुनिक जैन अभ्यासकों ने इसका उचित भावार्थ जनने का प्रयास किया है । पं. सुखलालजी, डॉ. सागरमल जैन जैसे विद्वानों ने यह भावार्थ व्यक्त किया है कि, 'उसे सर्वज्ञ कहा जाय जो हर–एक विषय को सापेक्ष रूप से जानता है, भाषिक व्यक्तीकरण में आग्रही नहीं रहता है और आयुष्य के रागद्वेष, सुख–दु:ख आदि साक्षीभाव से देखता है ।'

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में केवलज्ञान का अर्थ :

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में केवलज्ञान की एक तार्किक उपपत्ती सम्भव हो सकती है । 'केवल' इस शब्द का मूलभूत अर्थ 'एक' है । अंग्रेजी में उसका भाषान्तर 'specific' है । आधुनिक काल में विविध प्रकार के विज्ञानों की शाखा–प्रशाखासहित बहुत ही वृद्धि हो रही है । इसीलिए ज्ञान की दृष्टि से आज का युग specialization का युग है । वैज्ञानिकों ने भी यह मान्य किया है कि जब ज्ञान सूक्ष्म, सूक्ष्मतर हो जाता है तब वह अधिकाधिक specialized ही हो जाता है । सब प्रकार के विद्वान तीनों कालों में जानना अशक्य बात है । एक एक का ज्ञान

अधिकाधिक गहराई में हो सकता है ।

अत: specialized ज्ञान के सन्दर्भ में केवलज्ञान संज्ञा बहुत ही अन्वर्थक बैठती है क्योंकि वह 'केवल' शब्द के व्युत्पत्यर्थ से मिलतीजुलती है ।

(७) कुमति-कुश्रुत-कुअवधि : तीन अवधारणाएँ :

'मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च'[२१]-इस सूत्र का मतलब है कि मति-श्रुत और अवधि ये तीनों पर्याय लौकिक संकेत के अनुसार तो ज्ञान ही हैं परन्तु आध्यात्मिक शास्त्र के संकेत के अनुसार मति-श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञानात्मक पर्याय मिथ्यादृष्टि के अज्ञान हैं और सम्यग्दृष्टि के ज्ञान ।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का निकष इन्द्रियज्ञान अर्थात् मतिज्ञान के लिए उपयोजित करना, ठीक नहीं लगता । क्योंकि जिन जिन व्यक्तियों की इन्द्रियाँ सक्षम है, उनको प्राय: इन्द्रियज्ञानों से होनेवाला भेद थोडासा तरतमभाव रख के प्राय: समान ही होगा । समान इन्द्रियबोधों में से कुछ व्यक्तियों के बोध को 'सुमति-बोध' कहना और कुछ लोगों के बोध को 'कुमति-बोध' कहना नीतिशास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं है । व्यक्ति संसाराभिमुख हो या मोक्षाभिमुख हो, इन्द्रियबोध तो समान ही होगा । और यह भी एक बात यह है कि सामान्यत: व्यक्ति सदा के लिए संसाराभिमुख और सदा के लिए मोक्षाभिमुख होता ही नहीं है । आसक्ति और विरक्ति का चक्र चलता ही रहता है ।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियबोध सार्वजनीन और सार्वकालिक होने के कारण आध्यात्मिक निकष लगाकर, उन्हें अच्छा या बुरा कहना उचित नहीं है । उदाहरणार्थ व्यक्ति किसी भी प्रकार की हो, कौअे का रंग काला ही है, शक्कर का स्वाद मीठा ही है । मोक्षाभिमुख व्यक्ति को भी इसका ज्ञान अन्य रूप से कभी नहीं होगा तो संसाराभिमुख व्यक्ति के ज्ञान को 'कुमतिज्ञान' कहने का हक हमें नहीं है । कोई व्यक्ति इन्द्रियों के अनुभवों का उपयोग आसक्ति में परिणत कर सकता तो कोई अनासक्ति में । संसार के लिए या मोक्ष के लिए पोषक होना या न होना पूर्णत: व्यक्तिसापेक्ष है । ऐन्द्रियज्ञान को हम 'कुमति' नहीं कह सकते ।

* जो बात मतिज्ञान के बारे में है वहीं श्रुतज्ञान के बारे में भी उपयोजित की जा सकती है । क्योंकि ग्रन्थरूप हो या मौखिक, श्रुतज्ञान एकरूप ही है । उससे क्या बोध लेना है, यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर है । अत: ज्ञान में यथार्थता और अयथार्थता समाविष्ट नहीं होती । अगर ऐसा कहें कि जो श्रुतज्ञान असत्य है, भ्रमित करनेवाला है, नैतिक अध:पतन करानेवाला है, उसको मिथ्याज्ञान या कुश्रुत कह सकते हैं । जिन ग्रन्थों के नाम नन्दीकार ने मिथ्याश्रुत के अन्तर्गत दिये हैं उनमे से ज्यादातर ग्रन्थ व्यवहारोपयोगी ज्ञान का अवबोध कराते हैं । शालेय अभ्यासक्रम में भी जो वस्तुस्थिति-निदर्शक ग्रन्थ हैं जैसे कि इतिहास-भूगोल आदि, उनको हम मिथ्याश्रुत नहीं कह सकते चाहे वे मिथ्यादृष्टि पढें या सम्यक्दृष्टि पढें ।

काव्य-चरित-पुराण आदि की बात तो और ही है । क्योंकि उनमें तो सत्य और कल्पित का एवं अद्भुत का भी सम्मिश्रण होता है । यह बात जैनोंद्वारा लिखे हुए कथा-चरित-पुराणों को भी लागू होती है । जैनों ने लिखा हुआ साहित्य और जैनेतरोंद्वारा लिखा हुआ साहित्य इन दोनों में कोई मूलभूत फर्क नहीं है । वैसे भी अर्धमागधीग्रन्थों में भी तीन-चार ग्रन्थ निश्चित रूप से कथा-दृष्टान्तात्मक आधार से लिखे हुए हैं । इसी तथ्य को परिलक्षित कर के नन्दीकार को मिथ्याश्रुत के बारे में विशेष टिप्पणी लिखनी पडी । इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञान केऊपर 'कु' या 'सु' सिक्का लगाना ठीक नहीं है ।

दूसरी एक बात यह है कि वैदिक परम्परा के दार्शनिक हो या जैन हो या बौद्ध, सब ने अपने-अपने मूलाधार ग्रन्थ, आम्नाय या आगम को श्रुत कहा है और उनको मोक्षोपयोगी ही माना है । अत: अनेकान्तवादी जैन दर्शन को यह नहीं चाहिए कि वे अपने शास्त्रों को ही मोक्षलक्ष्यी माने और दूसरों को नहीं । अगर मूल जैन परम्परा में अभिनिवेश होता तो उत्तराध्ययन एवं नन्दी जैसे ग्रन्थों में 'अन्यलिंगसिद्ध' यह संज्ञा मोक्षगामी जीवों के लिए प्रयुक्त

की हुई नहीं दिखाई देती ।[२२] उत्तराध्ययन के इस सन्दर्भ में उदारमतवाद जरूर दिखायी देता है परन्तु परवर्ती साहित्य में यही दिखाया गया है कि आध्यात्मिक योग्यता का धारक कोई भी व्यक्ति 'जैनीकरण' के बिना मोक्षगामी नहीं हुआ । उदाहरण के तौर पर हम जैन रामायण और जैन महाभारत देख सकते हैं ।

* अवधिज्ञान का सम्बन्ध मुख्यत: आत्मिक प्रगति और आत्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान से है । अत: वस्तुत: उसमें कुअवधि की कोई सम्भावना ही नहीं है । कुअवधि संज्ञा के पिछे कोई कारण जरूर रहा होगा । इसकी कारणमीमांसा इस प्रकार की जा सकती है – समाज में कई प्रकार के तापस थे । उनके अवधिज्ञान के दर्शक प्रसंग भी पाये जाते हैं । खास कर, पातञ्जल-योग में 'परचित्तज्ञान' और योग के द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष इन्द्रियबोधों के उदाहरण विभूतियों के वर्णन में पाये जाते हैं ।[२३] उमास्वाति के पहले, पाजञ्जल योगसूत्रों की रचना और योग का प्रचलन हो चुका था । उनके द्वारा वर्णित अवधिदर्शन और जैन ज्ञानमीमांसा में कुअवधिज्ञान की अवधारणा की गयी होगी । जैनेतरों के द्वारा प्राप्त अवधिज्ञान को वे सम्पूर्णत: नकार नहीं सके । यथार्थ स्थान देने में उनका मन हिचकिचाया । परिणामवश कुअवधि के दायरे में मिथ्यादृष्टियों के अवधिज्ञान को रखा गया होगा । यहीं वजह होगी कि जैन मुनियों द्वारा उपयोजित सुअवधिज्ञान के उदाहरण कथाग्रन्थ में आते हैं लेकिन कुअवधिज्ञान के उदाहरण नहीं के बराबर पाये जाते हैं ।

* कुमति-कुश्रुत और कुअवधि सूत्र के अनन्तर सूत्र में तत्त्वार्थ ने खास कर दो शब्द प्रयुक्त किये हैं । वे हैं – यदृच्छोपलब्धि और उन्मत्तवत् ।[२४] ऐसा प्रतीत होता है कि मादक और नशीली चीजों के सेवन से जो रंगबिरंगे दृश्य भासमान होते हैं, जो तात्कालिक है, जो भ्रमाधार है – उनको उद्देश्य कर के ही असल में 'कुअवधि' शब्द का प्रयोग किया होगा । बाद में वह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि से जोडा गया होगा ।

अन्तिमत: हम कह सकते है कि मति-श्रुत-अवधि की अवधारणाएँ 'मिथ्यादृष्टि' और 'सम्यग्दृष्टि' से सम्बन्धित हैं । ये दोनों संज्ञाओं का उचित अर्थ लगाना आवश्यक है । जिस-जिस व्यक्ति में सामान्यत: विवेक, तर्कबुद्धि और पक्षपातरहितता है, उन-उन व्यक्तियों को हम सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं, चाहे वें जैनियों के तत्त्वअवधारणा-ज्ञानमीमांसा और व्रतों की पारिभाषिकता से अपरिचित क्यों न हो । अभिनिवेश दूर करने से ये तीन ज्ञान खाली 'आध्यात्मिकता' की कक्षा से बाहर होकर 'नैतिकता' की कक्षा में समा सकते हैं ।

(ब) जैन ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित संकीर्ण विचार :

* विश्व के रहस्य जब Discovery आदि चॅनेल्स् पर उद्घाटित किये जाते हैं तब अपरिहार्यता से ज्ञानावरणीय संज्ञा की याद आती है । क्योंकि जैन मतानुसार भी 'आवरण' हटने से ज्ञान प्रगट हो जाता है ।

* ज्ञान की चर्चा के साथ जैन तत्त्वज्ञान और खास कर के आचार में 'भावनांक' को भी समान महत्त्व दिया जाता है । मतलब यह है कि इसे हम आधुनिक परिभाषा में बुद्ध्यंक (I.Q) और भावनांक (E.Q) कह सकते हैं । 'तुषमाष' पद का घोष करनेवाले शिवभूति मुनि[२५] और एक एक प्रसंग पर चिन्तन कर के केवलज्ञान तक पहुँचनेवाले 'प्रत्येकबुद्ध'[२६] – आदि उदाहरणों द्वारा यह परिलक्षित होता है कि 'भावनांक' का महत्त्व भी जैन ज्ञानमीमांसा का अविभाज्य अंग है ।

* भ. महावीर का आयुष्यक्रम, ज्ञानाराधना, साधना और उपदेशकाल सब के सामने खुली किताब की तरह मौजूद है । तीव्र ग्रहणशक्ति के बावजूद भी उनके आयुष्य में गुरुकुलवास का स्थान स्पष्टत: से उल्लिखित है । अके जीवन में यथार्थ रूप से पाँचों ज्ञानों का यथायोग्य संयोग दिखाई देता है । बुद्ध्यंक और भावनांक का सम्मिश्रण है । हम यह तात्पर्य निकाल सकते हैं कि औपचारिक शिक्षण और अध्यात्म दोनों परस्परपूरक है ।

* आगमों में अन्तर्निहित विषयों का लेखाजोखा अगर कोई ले तो मालूम पडता है कि औपचारिक ज्ञान के अनुकूल विविध शास्त्रों के समकालीन विचार आगमों में ही उपलब्ध हैं । उदा. पण्णवणा, जीवाभिगम, सूर्यप्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय आदि । भ. महावीर को शायद यह अपेक्षित था कि निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा

उत्तरवर्ती आचार्य इस लौकिक ज्ञान को भी ज्यादा से ज्यादा पुष्ट करें ।

* औपचारिक ज्ञान एवं व्यवहार में जन्मजात बुद्धि, शिक्षण से प्राप्त बुद्धि, अभ्यासप्राप्त कर्मज कौशल्य एवं वय-परिणाम के साथ प्राप्त किये अनुभव इन चारों का समावेश 'चतुर्विध बुद्धि' के अन्तर्गत नायाधम्मकहा जैसे आगमग्रन्थ में और उपदेशपद जैसे उत्तरवर्ती ग्रन्थ में पाया जाता है । तत्त्वार्थ और उस के व्याख्याकारों ने पाँचज्ञानों में चतुर्विध बुद्धि की व्यवस्था नहीं की है । इसके सम्बन्ध में नन्दीकार का प्रयत्न स्तुत्य है ।

* जैन परम्परा में धर्मध्यान के चार प्रकार बताएँ हैं । वे हैं - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ।[२७] इन चारों नामों पर विशेष विचार करें, तो विज्ञान की आराधना के लिए उपयुक्त सभी घटकों की उपस्थिति इन चारों ध्यानों में पायी जाती है । विशिष्ट क्षेत्र में पूर्वकालीन वैज्ञानिकों के संशोधनों का संकलन 'आज्ञाविचय' में अपेक्षित है । पूर्वधारणा और नूतनधारणा के मानने पर उपस्थित होनेवाले दोषयुक्त परिणामों का चिन्तन 'अपायविचय' है । एक वैज्ञानिक भी hypothesis प्रस्थापित करने के लिए यही करता है । संशोधन के नये तरीके अपनाने से परिणामस्वरूप कौनसे निष्कर्ष आ सकते हैं, इनका अन्दाज करना और प्रयोग करना 'विपाकविचय' है । लोकस्वरूप का विचार करना 'संस्थानविचय' है । हर-एक वैज्ञानिक चाहें किसी भी ज्ञानशाखा में संशोधन करें अन्तिमत: वह लोकस्वरूप का चिन्तन ही है ।

विज्ञान की आराधना के लिए शंका-कांक्षा-चिकित्सा-प्रयोगशीलता-शंकासमाधान-प्रश्नोत्तर और समीक्षा आदि सबकी आवश्यकता है । इन सबको हम scientific research methodology भी कह सकते हैं । अर्धमागधी आगमों में से कुछ आगमों में उपरोक्त प्रकार की प्रयोगशीलता पायी जाती है - जैसे नायाधम्मकहा के परिखा-दृष्टान्त में पानी के शुद्धीकरण का प्रयोग कर के 'द्रव्य-गुण-पर्याय' सिद्धान्त की स्थापना की है ।[२८] आत्मा का स्वरूप जानने के लिए राजा प्रदेशी और केशिकुमार श्रमण इनकी उपस्थिति में किये गये प्रत्यक्ष प्रयोगों का उल्लेख राजप्रश्नीय में शब्दबद्ध किया है ।[२९]

प्रारम्भिक ग्रीक तत्त्वज्ञान जिस प्रकार विज्ञान में फलित हुआ उसी प्रकार की सम्भावनाएँ कई आगमों में दिखाई देती हैं । लेकिन काल के ओघ में जैन परम्परा में प्रयोगशीलता कम होने लगी और आचारप्रधानता एवं आध्यात्मिकता बढने लगी । परिणामवश जीवनोपयोगी लाक्षणिक साहित्य की निर्मिति बहुत ही कम मात्रा में हुई ।

ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित विचार केवल नमूने के तौरपर दिये हैं । और भी कौनकौनसी दृष्टि से ज्ञानमीमांसा हो सकती है, ये शोधनिबन्ध के उपसंहार में दिग्दर्शित करते हैं ।

उपसंहार एवं भावी संशोधन :

जैन दर्शन के पाँच प्रकार के ज्ञान, जैन ज्ञानमीमांसा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । विविध दृष्टिकोण अपनाकर इसकी चर्चा हो सकती है । ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञानमीमांसा के परिवर्तन एवं परिवर्धन अंकित किये जा सकते हैं । सामाजिक एवं स्त्रीवादी दृष्टिकोण अपनाकर कुछ नये मुद्दे उपस्थित हो सकते हैं । तत्त्वमीमांसा का प्रारूप ध्यानमें रखा तो अलग चित्र पाया जाता है । जैनियों की ज्ञानचर्चा में आध्यात्मिकता की दृष्टि तो है ही, लेकिन उनमें से कौनसे मुद्दे नीतिमूल्यों के दायरे में आ सकते हैं और कौनसे सिर्फ आध्यात्मिक हैं, इसका लेखाजोखा भी प्रस्तुत किया जा सकता है । ज्ञानविज्ञान के स्फोट के इस तीसरे सहस्रक में इन पाँच ज्ञानप्रकारों की आधुनिक चिकित्सा की जा सकती है ।

हमें मालूम है कि इस शोधनिबन्ध में कुछ मुद्दों को स्पर्श किया है, कुछ को नहीं कर सके हैं । जैसे जैसे विषयकी गहराई में चलते गये वैसे वैसे लगा कि यह तो एक स्वतन्त्र प्रॉजेक्ट हो सकता है । आशा है कि येनिरीक्षण समग्र-चर्चा की कुछ दिशाएँ तय करने में कामयाब होंगे ।

पाँच ज्ञानप्रकारों की नयी उपपत्ति :

किसी भी विचारी, विवेकी, पक्षपातरहित और नीतिमूल्यों की कद्र करनेवाले मनुष्य को ये पाँच ज्ञानप्रकार जीवनभर दीपस्तंभ की तरह मार्गदर्शक हो सकते हैं । इस दुनिया में प्रवेश पाते ही, किंबहुना गर्भावस्था से ही मनुष्य की ज्ञानप्रक्रिया का भी आरम्भ हो जाता है । बाल्यावस्था में विशेषत: पाँच वर्षतक ऐन्द्रिय ज्ञान को स्वीकारने की, व्यवस्था लगाने की और प्रतिक्रिया देने की प्रवृत्ति अधिक प्रबलरूप से होती है । शालेय-महाविद्यालयीन शिक्षण में मुख्यत: श्रुतज्ञान को अवसर दिया जाता है । अन्दाजन ३०-४० सालतक ज्ञान के विशाल क्षितिज और व्यक्तिगत ज्ञानसम्पादन की 'अवधि' याने मर्यादा को हम जानने लगते हैं । लगभग ५०-६० की उम्र में अपेक्षित है कि हम अन्तर्मुख होकर अपने ही मन:पर्यायोंपर ध्यान केन्द्रित करें । ६०-७० के बाद चाहे आत्मिक उन्नति में हो, चाहे सामाजिक क्षेत्र में हो, चाहे ज्ञानाराधना में हो या कलासाधना में - हमें आवश्यक है कि 'केवल' याने 'एकत्व' की भावना की पुष्टि करते करते खुद तय किया हुआ रास्ता आखिरतक निष्ठापूर्वक अपनाते रहें ।

अगर हम चाहते हैं तो ज्ञान के ये पाँच प्रकार हमारी जीवनशैली को उजागर कर सकते हैं और शायद यही सही मायने में 'सम्यक्त्व' का अर्थ है ।

****

सन्दर्भ-सूचि

१) सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय, पृ.८, परिच्छेद ६

२) उत्तराध्ययन, केशि-गौतमीय अध्ययन २३.२५

३) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग: । तत्त्वार्थसूत्र १.१

४) तत् प्रमाणे । आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् । तत्त्वार्थसूत्र १०-१२

५) तत्त्वार्थसूत्र १.१५-१९

६) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

७) स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त: पुद्गला: ।
शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ।। तत्त्वार्थसूत्र ५.२३-२४

८) नन्दीसूत्र, सूत्र ७७

९) नन्दीसूत्र, सूत्र ७३-७४

१०) नन्दीसूत्र, सूत्र ८०

११) नन्दीसूत्र, सूत्र ८१

१२) द्विविधोऽवधि: ।
तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ।
यथोक्तनिमित्त: षड्विकल्प: शेषाणाम् ।। तत्त्वार्थसूत्र २१-२३

१३) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वक्षस्कार ५

१४) ज्ञाताधर्मकथा, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १४, तेतलिपुत्र-पोट्टिलदेव संवाद

१५) विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन १, सुबाहू, सूत्र २३

१६) सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय, पृ.४८-७२, परिच्छेद ३४-१६१

१७) 'The World of Tiryañcas', A paper published in 'The Collected Papers in Prakrit & Jainology' (Vol.II), Dr. Nalini Joshi, Seth H.N.Jain Chair, Firodia Publications, 2012

१८) ऋजुविपुलमती मन:पर्याय ।
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष: । तत्त्वार्थसूत्र २४-२५

१९) सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । तत्त्वार्थसूत्र १.३०

२०) सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध २, अध्याय ५, गाथा १५

२१) मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च । तत्त्वार्थसूत्र १.३२

२२) नन्दीसूत्र, सूत्र ४९, उत्तराध्ययन

२३) पातञ्जलयोगसूत्र, विभूतिपाद, सूत्र १९ ; विभूतिपाद, सूत्र ३६

२४) सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् । तत्त्वार्थसूत्र १.३३

२५) तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ । अष्टपाहुड ५.५३

२६) अ) तत्त्वार्थसूत्र १०.७

ब) कुमारपालप्रतिबोध, प्रस्ताव ३, पृ.२९८, भावनायां इलापुत्रकथा

२७) आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचया य धर्ममप्रमत्तसंयतस्य । तत्त्वार्थसूत्र ९.३७

२८) ज्ञाताधर्मकथा, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १२, परिखाजल दृष्टान्त

२९) राजप्रश्नीय, पएसि-कहाणगं, सूत्र ७४८-७६३

****

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचि

१) तत्त्वार्थसूत्र : वाचक उमास्वाति, विवेचक - पं. सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २००१

२) सर्वार्थसिद्धि : आ.पूज्यपाद, मराठी अनुवाद व संपादन - प्रा. कंडारकर, शहा, पद्म प्रकाशन, पुणे, वी.नि.सं.२०३२

३) नन्दीसूत्र : सं. मधुकर मुनि, आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), १९९१

४) उत्तराध्ययनसूत्र : नवसुत्ताणि ५, सं.आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९८७

५) नायाधम्मकहाओ आणि विवागसुयं
(ज्ञाताधर्मकथा) आणि (विपाकश्रुत) : अंगसुत्ताणि ३, सं.आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९९२

६) रायपसेणियं आणि जीवाजीवाभिगम : उवंगसुत्ताणि ४, सं.आ. महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), १९८७

****